भारत-भारती और एशिया की संस्कृतियाँ

लोकेशचन्द्र

साइबेरियाराष्ट्रात् इण्डोनेशियाराष्ट्रं यावत् एशिया-खण्डस्य हृद्भूतभूमण्डले भारतभारती राजते। तत्र प्रतिपर्वतं मन्दिराणि शोभन्ते। नद्यस्तत्रत्या गङ्गाप्रतिरूपिण्यः प्रवहन्ति। संस्कृतपूजामन्त्राः वातावरणं पवित्रयन्ति। सर्वत्र भारतीया संस्कृति र्दृश्यत इत्यस्मिन् लेखे यथार्थचित्रणं करोति लेखकः।

एशिया के हृदयांचलों में भारत-भारती सुरक्षित है। उसके गिरि-गिरि को मन्दिरों से पावन कर रही है, उसकी नदियाँ गंगा मैया की प्रतिरूपिणी बन गई हैं। संस्कृत के पूजा-घोष देश-देशान्तर के वातावरण को पुनीत कर रहे हैं। भारत के देव और देवियाँ साधक कलाकारों की तूलिका से रूपमाधुरी से आप्लावित हो उठते हैं—ये दृश्य शिबिरदेश (साइबेरिया) के शीततम प्रदेशों से लेकर इण्डोनेशिया की शस्य-श्यामला उपत्यकाओं के विराट भू-भाग की आत्मा हैं।

योरोप में रोमा जातियां

एशिया और योरोप के विभिन्न भागों में रोमणी जातियाँ हैं। ये भारतीय जातियां हैं, जो १००० वर्ष पूर्व भारत से बाहर निकलीं और चलीत-फिरती ईरान, तुर्की, मिस्र, योरोप, अमेरिका, रूस में फैल गईं। रोमणी 'डोम' शब्द का रूपान्तर है। इन्हें 'कालो (कृष्णवर्ण) भी कहते हैं। ये यायावर हैं, और कभी एक स्थान पर लम्बे समय तक नहीं ठहरते। ग्रामों और नगरों के बाहर सड़कों पर अपनी घोड़ागाड़ियों में सजधज के साथ जहाँ कहीं भी रोमणी परिवार डेरा जमाते हैं, वहीं खेल-कूद, आमोद-प्रमोद का नया संसार आविष्कृत हो जाता है। इन्हें अपनी भाषा का बड़ा अभिमान है। उसे छिपा-छिपा कर रखते हैं। उसके मूलभूत शब्द, वाक्यरचना और व्याकरण भारतीय हैं। 'कालो चिब' (चिब्=जिह्वा=भाषा) अर्थात् रोमणी भाषा में अद्भुत भारतीय शब्द सुरक्षित है। एक शब्द 'हिम' को ही लिजिए—दिखस् बारो इव्। त्रशीअस्। शा अरे ग्यस् पाले। था फन्दीअस् ओर

उदार् (देखी बड़ी हिम। त्रास हुआ। और अन्दर गया परे। बौर बन्द किया वह द्वार।) इवेस्को दिवेस् (हिम का दिवस)। इवेस्की रात (हिम की रात)। मेरे पिता आचार्य रघुवीर की ने उनके गीत भरे थे और रीत समझीं थीं। चेकोस्लोवाकिया में एक रोमणी माता से मिले। उसने कहा–''मेरे पुत्र का रंग सांवला है। पाठशाला में बच्चे उसे काला कह कर चिढ़ाते हैं। मैं उसे दूध में नहला कर गोरा बनाना चाहती हूँ।'' दूध में नहला कर गोरा करने की कल्पना पिताजी ने अपने बाल्यकाल में ग्राम में सुनी थी। रोमणी माता के मुख से यह सुनकर अनेक ऐसी सूक्ष्म समानताएँ देख कर उनका मन स्पन्दित हो उठा था।

गंगाजल के प्रति आस्था

आजकल के विहंगावलोकन में आपको दूर, बहुत दूर रूस के उत्तरतम साइबेरिया ले चलता हूँ। इस हिममय प्रदेश के अन्तरंग में एक छोटी-सी नदिया इठलाती चली जाती है। यह है आगिंस्की नदी। इसके समीप एक विशाल मन्दिर-विश्वविद्यालय बना जो आगिंस्की दात्सान् के नाम से विख्यात हुआ। इसमें दर्शन-शास्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद और ज्योतिष के चार महाविद्यालय थे। अंग्रेजी विश्व में ओक्सफोर्ड को जो सम्मान प्राप्त है, वही सम्मान इस आगिंस्की को था। यह शिबिरदेश का नालन्दा विश्वविद्यालय था। यहाँ का पाठ्यक्रम प्राचीन नालन्दा की परिपाटी का था। शिबिर-देश के मन्दिर-विश्वविद्यालयों में अपने मुद्रणालय थे, जिनमें लकड़ी के फलकों से विभिन्न ग्रन्थ छापे जाते थे। यह समस्त साहित्य संस्कृत से मोंगोल भाषा में अनूदित था, अथवा उसकी साधना से अनुप्राणित था, उसके भावजगत् में लीन था। इसमें पाणिनि का व्याकरण, कालिदास का मेघदूत, संस्कृत मन्त्रों के समुच्चय, आयुर्वेद का अमृत-अष्टांगहृदय आदि सहस्त्रों ग्रन्थ हैं, जो मोंगोल भाषा में अनुवाद किए गए थे। आज भी शिबिरवासियों के हृदयों में गंगाजल के प्रति आस्था है। शिबिरदेश में शतियों के अनन्तर 'मानिन् ओस्' अर्थात् गंजाजल पहुंचाने में पिता जी अग्रणी थे।

आयुर्वेद की थाती सुरक्षित

शिबिरदेश की विज्ञान-परिषद् में प्राचीन आयुर्वेद का अध्ययन हुआ है। शिबिर हस्तलिपियों में आयुर्वेद का जो ज्ञान-भण्डार सुरक्षित है, उसकी सम्पन्नता अनुमान से परे है। सचित्र निघण्टु भी विद्यमान हैं, जिनमें जड़ी-बूटिया, शरीर-रचना और शल्योपकरण (सर्जिकल इंस्ट्रूमेंट्स) चित्रित हैं। यहाँ के वैद्य रूस के प्रमुख नगर पीटर्ज़बर्ग और मास्को में भी चिकित्सा किया करते थे। एक सुविख्यात वैद्य श्री पाद्यायेफ़ थे। आपका नाम संस्कृत 'पद्य' का रूप है, जिसके

अन्त में रूसी प्रत्यय येफ़ लगा हुआ है। आप पीटर्ज़बर्ग में अपनी सफल चिकित्सा के लिए लोकप्रिय थे। आप रोगियों में अग्रगण्य साम्यवादी नेता बुखारिन और रूकोफ, लेखक आलेक्सेइ टालस्टाय सम्मिलित थे। कई बार स्तालिन के उपचार के लिए भी गए थे। लोक-स्वास्थ्य-अध्यक्ष कार्मिंस्की को उनके ज्ञान के लिए विशेष आदर था और उन्होंने पाद्यायेफ़ के लिए सैनिक चिकित्सा में विशेष विभाग बनाया था।

'मुझे भूल न जाना' पुष्प

शिबिर के थर्राने वाले, जमाने वाले प्रचण्ड महाशीत में मन्दिरों के अन्दर संस्कृत के धारणी-मन्त्रों का अनुच्चरित गुंजन और बाहर छतों से लटकती हुईं एवं शीतझंझा से झंकृत सैंकड़ों नन्हीं-नन्हीं घंटियाँ, नवरत्नों से लिखे ग्रन्थ, तुषार से बचाने के लिए लकड़ी के कमरे में शिशु की नाईं पाला-पोसा बोधिवृक्ष, श्रीवत्स-अंकित वस्त्र से ढकी मेज, अगरु और चन्दन की लकड़ी से बनी महा-घण्टी, मूत्तियाँ, आदि-आदि—नई चेतना का भाग हैं। मन्दिर के बाहर नन्हें-से पीले 'नेज़ाबुत्का' के फूल हैं। नेज़ाबुत्का का अर्थ है 'मुझे भूल न जाना'। ये नन्हे फूल विस्मृति के प्रति चेतावनी दे रहे हैं।

७वीं-८वीं शती का भारत

मोंगोल जाति का वही प्रेय और श्रेय है जो भारत-भारती का है। मोंगोल इतिहासों में उल्लेख हैं कि छठी शताब्दी के अन्तिम दशक में शाक्यवंश, नरेन्द्रयशस् और अन्य भारतीय आचार्य जन-हिताय उनके देश में आए थे। तब से भारतीय आचार्यों का आवागमन चलता रहा और धर्म की ज्योति इस उत्तरावर्त्त में फैलती गई। इसके परिणामस्वरूप मोंगोल भाषा में ६,००० संस्कृत ग्रन्थों का भाषान्तर हुआ। सन् १९४० में ७५० विहार थे, जिनमें नालन्दा की परम्पराएँ सुरक्षित थीं, अनेक संस्कृत ताडपत्र थे, बत्तीस लाख (३२,००,०००) हस्तलिपियां और दस लाख मूत्तियां थीं, मन्दिर-द्वारों पर गणेश जी की प्रतिमाएँ थीं और लाखों प्रभापट थे। रूस के प्रख्यात संस्कृतज्ञ श्चर्बात्स्की कहा करते थे कि मोंगोलदेश सातवीं-आठवीं शताब्दी का भारत है। जब श्चर्बात्स्की इस प्रदेश में गए, तब मोंगोल विद्वानों ने संस्कृत परिपाटी से तर्कशास्त्र-सम्मत शास्त्रार्थ में उन्हें परास्त कर दिया था। भारतीय आचार्यों का अन्तिम पदार्पण प्रथम जिब्चुन्दाम्पा के समय (१६२७-१६८६) में हुआ। दो आचार्य उनके शिबर (तम्बू) में रहे और वे अपने साथ अनेक भारतीय कथाएँ ले गए। उनमें बिगर्मिजिद् (विक्रमादित्य), अर्जि-बुर्जि (राजा भोज) और गिसना खाँ (कृष्ण) के कथानक हैं। सिंहासन -बत्तीसी और

बेताल-पच्चीसी भी ले गए थे। ये कथाएं मोंगोल देश के सुदूर ग्रामों में आज तक तम्बू-तम्बू में आग तापते हुए परिवारों की विनोद बनी हुई थीं।

एक आचार्य का दण्ड मोंगोल देश के गांडङ् विहार में सुरक्षित है और दोनों आचार्यों के मुखौटे भी छोइजिन्लाम् विहार में पड़े हैं। तीन शताब्दियों के उपरान्त पिताजी मोंगोल देश में जाने वाले पहले आचार्य थे। मोंगोल पिता जी को बीसवीं शताब्दी में उनके देश में पर्दापण करने वाला प्रथम आचार्य मानते हैं। मोंगोल मानस में 'आजार' अर्थात् 'आचार्य' श्रद्धास्पद शब्द है। १९५९ में अन्तरराष्ट्रीय मोंगोलविज्ञ सम्मेलन में भारत के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने के लिए पिताजी (आचार्य रघुवीर जी) गए। सम्मेलन के समस्त प्रतिनिधि बस में बैठ जब मन्दिर देखने गए, तब सबके सामने अद्भुत स्थिति उपस्थित हुई। एकत्र मोंगोल जनता ने पिता जी के सामने आशीर्वाद के लिए अपने सिर झुकाए। एक-दूसरे में होड़ हुई कि कौन पहले आशीर्वाद पाता है। यह देखकर योरोपीय विद्वानों को आश्चर्य हुआ। डॉ० यूरी रोरिख ने कहा—''आपकी संस्कृति की यह महिमा है। इसे मत खोइए। यही आपकी राष्ट्रीय निधि है।'' सायं पिताजी के हाथ उन्होंने पं० नेहरू के नाम पत्र दिया और उसमें यही विचार प्रस्तुत किए।

मोंगोल देश की मंगलत्रयी

सन् १९५७ में मुझे मोंगोल जाने का सौभाग्य मिला। सर्वत्र पिता जी को स्मरण कर द्रवितहृदय थे। पिता जी की संस्कृति-साधना को पूर्ण करने के लिए मुझे अपनी मंगलकामनाएँ दीं और उसके साथ दीर्घायु के देवता भगवान् आयुषी की प्रतिमा, उनकी स्तोत्र-पुस्तक और उनका चैत्य दिया। मोंगोल में पूर्ण मंगल के लिए तेन्सुम् अर्थात् मंगलत्रयी देते हैं, जो काय, वाक् और चित्त धरातलों का प्रतिनिधित्व करती है। प्रतिमा कायिक धरातल का प्रतिरूप है, स्तोत्र अथवा अन्य पुस्तक वाचिक का, और चैत्य चित्त अर्थात् साधना का प्रतिरूप है। यह शास्त्रसम्मत मांगिलम विधान मोंगोल देश में प्रचलित था।

राष्ट्रपति 'शम्भु' और राष्ट्रध्वज 'स्वयम्भू'

१९५७ में मंगोल के राष्ट्रपति का नाम शम्भु था उनका ध्वज सोयम्बो अर्थात् स्वयम्भू है। उसमें दारिगंगा अर्थात् तारा-गंगा बहती है, उपप्रधानमन्त्री की पत्नी का नाम 'इन्द्री' था, और इन्द्री की माता जी का नाम 'रत्ना' था। साम्यवादी क्रान्ति का प्रारम्भ सुखेबातर ने शंख-ध्वनि से किया था— यह शंख क्रान्ति संग्रहालय में सुरक्षित था। सुखेबातर का आधुनिक मोंगोल इतिहास में वही स्थान है जो लेनिन का सोवियत इतिहास में है। आप दूर मोंगोल गाँवों में चले जाइए

और आपको भेड़ चराते व्यक्ति मिलेंगे, जो सारस्वत, कलाप और पाणिनि का संस्कृत व्याकरण जानते हैं।

कोरिया में

कोरिया में कुछ वर्ष तक वज्रगिरि के विहारों में भिक्षु कोरियाई-मिश्रित बोलते थे। सन् ३७४ में पहली बार भारतीय आचार्यों ने कोरिया में पदार्पण किया था और अगले वर्ष ही इबुल्लान्सा और सुङ्मोन्सा मन्दिरों की स्थापना हुई। सन् ३७४ में भारतीय आचार्य मल्लानन्द पाइक्जे की राजधानी में पहुंचे थे। इसी प्रकार कोरिया के कई तीर्थयात्री भारत-दर्शन के लिए आए। उनमें से सातवीं शताब्दी के कोरियाई यात्री हेचो का भारत-वृत्तान्त हमारे इतिहास के लिए विशेष महत्त्व का है। कोरिया की संस्कृति का स्वर्णिम काल सिल्ला-युग (६५९-९५५) है। इस काल में अजन्ता आदि की भारतीय शैली में अवलोकितेश्वर, विमलकीर्त्ति आदि के भव्य चित्रण हुए। वुन्चेउक् (६१३-६१६) इस युग के विख्यात संस्कृत विद्वान् थे और विज्ञप्तिमात्रता दर्शन पर उनकी कई कृतियाँ आज तक सुरक्षित हैं। ध्यान-योग का प्रवेश भी सिल्ला-काल के उत्तरार्द्ध में हुआ। ध्यान-योग कायिक और मानसिक शान्ति-प्रोत कर्मण्यता का प्रवर्त्तक बना। इसका निरूपण दो वाक्यों में किया गया-"शमथ में कर्मठता" (एक्टिव इन क्वाइटनेस) और "कर्मठता में शपथ" (क्वाइट इन एक्टीविटीज)। यह 'योगः कर्मसु कौशलम्' का रूपान्तर है। सिल्ला-वंशीय सम्राटों ने ध्यान-योग से राष्ट्र में निर्भीकता, शौर्य और धनुःकौशल को बढ़ाया। स्थापत्य-कला का पूर्ण विकास और वैभव मन्दिरों के निर्माण में हुआ। दुर्ग, प्रासाद और अन्य लौकिक भवनों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। पत्थर-निर्मित दीपस्तम्भ, चैत्य, विशाल मूत्तियाँ, चित्रों से सुशोभित भित्तियाँ और लटकते हुए प्रभापटों की आभा में कला उत्कर्ष को प्राप्त हुई।

कोरियाई लोकगीतों में तथागत की प्रज्ञा और करुणा संस्कृत की स्वरमाधुरी में लहलहा उठी। बौद्ध गीतों की मौलिक एवं गहरी भव्यता और अपरिमित्त भिन्नता कोरिया की संगीत-संस्कृति की नीवं बनी। मन्दिर-नृत्यों से कोरिया में अभिनय की नई दिशा आरम्भ हुई। सुकगोलाम् गुहाओं में गुप्तकालीन कला का लालित्य निखर उठा। 'कमल' स्तम्भाधारों, मंचों, आसनों में और अनेक प्रकार से सुव्याप्त अलंकरण बन गया। राजसिंह की विलक्षण प्रतिमाएँ धर्मघोष को द्योतित करतीं- "नायमात्मा बलहीनेन लम्यः"। होजू (वीणा), बांसुरी, मोक्ताक् (घण्टा), मन्दिर घण्टियाँ, ग्युङ्सोइ (झांझर) आदि भारतीय बाजे कोरिया वाद्यवृन्द के अंग बन गए। कोर्यू काल (१३६-१३११) में राजकाज "दशशील" के आधार पर चला और ताइजो सम्राट ने अपनी नीति घोषित की

कि "हम मन्दिर बनाएंगे जिनमें तपोनिष्ठ भिक्षुओं का तप बढ़े।" इस काल में धर्म का वैभव बढ़ा और युन्देउङ् (दीपंकर-वस्तु) और पाल्क्वान् अर्थात् अष्टांग उपवास समूची जनता के जीवन में व्याप्त हुए। कोर्यू काल में संस्कृत से अनूदित साहित्य का विराट् समुच्चय 'महाधर्मकोश' के नाम से काष्ठफलकों से छपा। सन् १०१० से लेकर १०८६ तक इसके १०,७०० भाग प्रकाशित हुए। यह साहित्य का 'अद्भुतं रूपमुग्रम्' था। संस्कृत वर्णमाला की ध्वनि-पद्धति पर कोरिया की राष्ट्रीय लिपि हांगेउल् का आविष्कार हुआ, जो आज उनकी एकमात्र लिपि है। कोरिया के हस्तशिल्पों में नील-मृत्स्ना (ब्लू पोर्सलेन) सर्वप्रथम है। इसकी हृदमंगम पारदर्शी नीलाभा में ध्यानयोग का गाम्भीर्य निहित है।

सूर्योदय की भूमि में संस्कृति की स्मृतियाँ

कोरिया के आगे सूर्योदय की भूमि जापान है। इसकी संस्कृति में झांकेंगे तो संस्कृत उसकी भूमिका में मिलेगी। दैनन्दिन जीवन में भी संस्कृत की मधुर स्मृतियाँ बिखरी पड़ी हैं। घरों में शिचि-फुकुजिन् अर्थात् सात मांगलिक देवताओं के चित्र अथवा मूर्त्तियाँ हैं। इनमें दण्ड धारण किए हुए दाइकोकु अर्थात् महाकाल हैं, बिशातीन् (वैश्रवण) कुबेर है, वीणा लिए हुए बेन्तेन् अर्थात् सरस्वती देवी हैं, और कांगितेन्-शोतेन् अर्थात् गणेश हैं। ज्वालाओं में परिवृत, दुष्टदमन के लिए दाएँ में खड्ग और बाएँ में पाश लिए फ़ुदो अर्थात् 'अचल' हैं। बच्चों की रक्षा-देवी किशिमोजिन् अथवा हारीती हैं महालक्ष्मी जी भी जापान में किचिजोतेन् (महाश्री) के नाम से पूजी जाती हैं। तोक्यो में महाकाल का मिमेगुरी मन्दिर, कुबेर का तामोन्जि मन्दिर और सरस्वती का चोमेइजि मन्दिर है।

संसार की प्राचीनतम वीणा

नव वर्ष के प्रथम दिन जापानी अपने मन्दिरों में सुख-समृद्धि के लिए उपासना करते हैं। मुण्डन-संस्कार केवल भिक्षुओ का होता है। दानजिकि इक्कीस दिन का उपवास है, जिसमें केवल जल ही पीते हैं और इस अवधि में मन्दिर-वास करते हैं। मार्च और सितम्बर में हाकामारि (श्राद्ध) करते हैं और पारिवारिक समाधियों पर जा कर जलदान कर के पितरों का तर्पण करते हैं। दोनों दिन पूर्ण शाकाहार किया जाता है जिसमें अण्डे और दूध भी वर्जित रहते हैं। जापान् में सन् ७५७ में स्थापित शोसोइन् मन्दिर में आठवीं शताब्दी की बीवा (वीणा) सुरक्षित है। यह संसार की प्राचीनतमन वीणा है। आज तक राष्ट्रीय जापानी संगीत में वीणा-वादन है। प्रज्ञाचक्षु जापान में वीणावादक होते थे। तोक्यो के समीप गोत्यकु राकान् मन्दिर है जिन में ५०० भारतीय आचार्यों की ५००

मूर्तियाँ है। तोक्यो में एम्मा (यम) के देवालय हैं जहाँ द्वितीय महायुद्ध से पूर्व शिशिक्षु १६ जुलाई को पूजार्थ जाया करते थे।

राजनीतिज्ञ निर्वाचन में विजयी होने पर, मनौती के अनुसार सारी जनता के सामने दारुमासान् की दूसरी आँख का आलेखन करते हैं। आप पूछेंगे कि इसका क्या अर्थ है। भारत की भाँति जापान में भी विशिष्ट कार्य करने से पहले मनौती करते हैं। दारुमासान् को अपने कक्ष में रख लेते हैं। इसकी आँखें ढकी रहती हैं अथवा होती ही नहीं। जब उनके सम्मुख की गई मनोकामना पूरी हो जाती है, तब ढकी आँखें खोल देते हैं, परन्तु सुसंस्कृत व्यक्ति मनौती करते समय एक आँख आलेखन करते हैं और दूसरी कामना पूर्ण होने पर। दारुमासान् आचार्य बोधिधर्म हैं जो भारत से गए थे और अपनी योग-सिद्धि के विलक्षण प्रताप के कारण आज भी जापानी मानस में जीवित हैं।

संस्कृत की प्रेरणा से जापानी लिपि

जापान की वर्णमाला हीरागाना कहलाती है। इसके आविष्कर्ता आचार्य कोबो दाइशी थे, जिनका काल सन् ७७४-८३५ है। कश्मीरवासी आचार्य प्राज्ञ से उन्होंने नागरी लिपि सीखी। यह लिपि सिद्धम् के नाम से जापान में मन्त्र लिखने के लिए आज तक प्रचलित है। आचार्य कोबो दाइशी ने कोयासान् के शान्त पर्वतांचल में अपना आश्रम बनाया और सिद्धम् के आधार पर जापानी वर्णमाला की रचना की। उसे 'गोजुओन्' अर्थात् 'ध्वनिपंचाशिका' कहते हैं। इसका आरम्भ इस प्रकार है– अ इ उ ए ओ। का कि कु के को। कोबो दाइशी के काल तक केवल सामन्त परिवार ही शिक्षा पाते थे और भयंकर चीनी लीपी मे ही लिखते थे। कोबो दाइशी ने सामान्य जनता के बच्चों तक शिक्षा पहुँचाने के लिए हीरागाना वर्णमाला की रचना की। इस प्रकार कोबो दाइशी ने संस्कृत की प्ररेणा से शिक्षा का सार्वजनीकरण किया।

प्राचीनतम अक्षयदीप

आज कोयासान् में १०० मन्दिर हैं, जिनकी प्राणप्रतिष्ठा संस्कृत मन्त्रों से हुई है। यह वह नगरी है, जहाँ प्राचीनतम अक्षयदीप जलता है। सन् १०२३ में सम्राट् शिराकावा ने इसे प्रज्वलित किया था और तब से आज तक कभी भी नहीं बुझा। इसके साथ ही एक और दीपक है जो अकिंचन बुढ़िया का है जिस उसने अपने बेच कर जलाया (सामन्तों की प्रेयसियाँ तब की कृत्रिम केश धारण करती थीं)। राजा और रक के ज्योतिर्मय दीपक काल को चुनौती दे रहे हैं। कोयासान् जापान के मन्त्रयान शिंगोन् का केन्द्र है। शिंगोन् में उपासना-मन्त्र संस्कृत हैं। इस

सम्प्रदाय के १२०० मन्दिरों की दैनंदिन पूजा संस्कृत में सम्पन्न होती है। आप जापान में कुछ मन्दिरों में नाना प्रकार के 'गोमा' अथवा होम की गरिमा में भी विलीन हो सकते हैं। होम के कुछ मन्त्र हैं "ऊँ पद्मोद्भवाय स्वाहा। ऊँ वज्रोद्भवाय स्वाहा। ऊँ वज्राग्निप्रदीप्ताय स्वाहा। खं आविर हूं खं श्री वं हूं त्राः हीः अः भ्रूं। .....ज्वल प्रवर्तय हूँ।" ये सब सिद्धम् लिपि में हैं जो तूलिका की व्यंजनात्मक वक्रिमाओं और वर्चस्विनी रेखाओं में अथवा काष्ठलेखनी की सुदृढ़ ओजपूर्ण खिंचानों में सुलेखक आचार्य का साधना-जगत् प्रतिबिम्बित करते हैं। कई वर्ष पूर्व जापान के दिल्ली-स्थित राजदूत को जब मैंने सिद्धम् में लिखे मंत्र दिखाए, तब वे बोले-''मैं ये पढ़ नहीं सकता, न ही समझ सकता हूँ, परन्तु उनके सुलेख को देख कर अनुभव कर रहा हूँ कि ये अक्षर अलौकिक तेज से प्रदीप्त हैं।''

जापान की पुष्पसाधना

राजदूत के कक्ष में अनुपम शैली के पुष्पविन्यास थे। जापान के शिष्टाचार के अनुसार जब मैंने उनके इकेबाना की विशेषताएँ बतानी आरम्भ कीं, कुछ विस्मित से कहने लगे-''आके देश से ही हम ने यह पुष्पशैली पाई थी। हमारी संस्कृति भारत की स्मृतियों से सम्पन्न है।'' भारतीय आचार्य सातवीं शताब्दी में जब जापान गए, तब उन्होंने विश्व-करुणा से प्रेरित हो झंझा से गिरे अथवा धूप से झुलसे पौधों को मन्दिर में प्रश्रय दिया और उन्हें बड़े प्यार से पाला-पोसा। जापान के समाज में यह नन्हीं-सी करुणा जादू बन गई। मन्दिरों में विशालकाय कांस्यपात्रों में और बालूभरी लकड़ी की मंजूषाओं में सूक्ष्म उपवनिकाएँ बनीं, और ये देव-प्रतिमा को पंचोपचार के रूप में समर्पित थीं। धीरे-धीरे पौधों के वामनीकरण (मिनीएचराइजेशन) पद्धति निकली और कम से कम शाखाओं के विन्यास द्वारा अल्पमत कला का प्रारम्भ हुआ। ध्यान-मन्दिरों में इसके साथ-साथ धूप के कलामय उपचार और उद्यान-कला का उद्भव हुआ। यह पुष्प-साधना मन्दिर से लोक जीवन में पहूँची। उदाहरणार्थ, विवाहकालीन पुष्प-सज्जा में दो बाँस के फूलदानों को मिजुहिकि (कलेवा) से बाँधा जाता है जो शाश्वत संयोग का प्रतीक है। बड़े फूलदान में देवदारू की ग्रन्थिल शाखाएँ पुरुषत्व जो जतलाती हैं, और छोटे फूलदान में कोमल श्वेत फूल सौम्य नारीत्व के प्रतीक हैं। जो सुकान्त भावनाएं और सुमंगलता फूलों के प्रति पुष्पविन्यास कला में है, वे नवदम्पति के जीवन को चिरमंगल में बाँधें। जब तक फूल जीवित रहते हैं इन्हें सींचने के समय यह भावना रहनी चाहिए कि फूल का जीवन आप के प्रेम पर निर्भर है। जब फूल मुरझा जाते हैं तब उन्हें मन्दिर में ले जाकर, भावनापूर्वक जला देते हैं। लीलामय जगत् सत्य में प्रज्ज्वलित हो उठता है।